

## अध्याय - ३८



बाबा की हंडी, नानासाहेब द्वारा देव-मूर्ति की उपेक्षा, नैवेद्य वितरण, छाँछ का प्रसाद।

गत अध्याय में चावड़ी के समारोह का वर्णन किया गया है। अब इस अध्याय में बाबा की हंडी तथा कुछ अन्य विषयों का वर्णन होगा।

### प्रस्तावना

हे सद्गुरु साई! तुम धन्य हो! हम तुम्हें नमन करते हैं। तुमने विश्व को सुख पहुँचाया और भक्तों का कल्याण किया। तुम उदार हृदय हो। जो भक्तगण तुम्हारे अभय चरण-कमलों में अपने को समर्पित कर देते हैं, तुम उनकी सदैव रक्षा एवं उद्धार किया करते हो। भक्तों के कल्याण और परित्राण के निमित्त ही तुम अवतार लेते हो। ब्रह्म के साँचे में शुद्ध आत्मारूपी द्रव्य ढाला गया और उसमें से ढलकर जो मूर्ति निकली, वही सन्तों के संत श्री साईबाबा हैं। साई स्वयं ही 'आत्माराम' और चिरआनन्द धाम हैं। इस जीवन के समस्त कार्यों को नश्वर जानकर उन्होंने भक्तों को निष्काम और मुक्त किया।

### बाबा की हंडी

मानव धर्म-शास्त्र में भिन्न-भिन्न युगों के लिये भिन्न-भिन्न साधनाओं का उल्लेख किया गया है। सतयुग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में दान का विशेष माहात्म्य है। सर्व प्रकार के दानों में अन्नदान श्रेष्ठ है। जब मध्याह्न के समय हमें भोजन प्राप्त नहीं होता, तब हम विचलित हो जाते हैं। ऐसी ही स्थिति अन्य प्राणियों की अनुभव कर जो किसी भिक्षुक या भूखे को भोजन देता है, वही श्रेष्ठ दानी है। तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि "अन्न ही ब्रह्म है और उसीसे सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है तथा उससे ही वे जीवित रहते हैं और मृत्यु के उपरांत उसी में लय

भी हो जाते हैं।" जब कोई अतिथि दोपहर के समय अपने घर आता है तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम उसका अभिनंदन कर उसे भोजन करावें। अन्य दान जैसे-धन, भूमि और वस्त्र इत्यादि देने में तो पात्रता का विचार करना पड़ता है, परन्तु अन्न के लिये विशेष सोचविचार की आवश्यकता नहीं है। दोपहर के समय कोई भी अपने द्वार पर आवे, उसे शीघ्र भोजन कराना हमारा परम कर्तव्य है। प्रथमतः लूले, लगड़े, अन्धे या रुग्ण भिखारियों को; फिर उन्हें, जो हाथ पैर से स्वस्थ हैं और उन सभी के बाद अपने संबन्धियों को भोजन कराना चाहिये। अन्य सभी की अपेक्षा पंगुओं को भोजन कराने का महत्त्व अधिक है। अन्नदान के बिना अन्य सब प्रकार के दान वैसे ही अपूर्ण हैं, जैसे कि चन्द्रमा बिना तारे, पदक बिना हार, कलश बिना मन्दिर, कमलरहित तालाब, भक्तिरहित भजन, सिन्दूररहित सुहागिन, मधुर स्वरविहीन गायन, नमक बिना पक्वान्न। जिस प्रकार अन्य भोज्य पदार्थों में दाल उत्तम समझी जाती है, उसी प्रकार समस्त दानों में अन्नदान श्रेष्ठ है। अब देखें कि बाबा किस प्रकार भोजन तैयार कराकर उसका वितरण किया करते थे।

हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि बाबा अल्पाहारी थे और वे थोड़ा बहुत जो कुछ भी खाते थे, वह उन्हें केवल दो गृहों से ही भिक्षा में उपलब्ध हो जाया करता था। परन्तु जब उनके मन में सभी भक्तों को भोजन कराने की इच्छा होती तो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक संपूर्ण व्यवस्था वे स्वयं किया करते थे। वे किसी पर निर्भर नहीं रहते थे और न ही किसी को इस संबंध में कष्ट ही दिया करते थे। प्रथमतः वे स्वयं बाजार जाकर सब वस्तुएँ - अनाज, आटा, नमक, मिर्ची, जीरा, खोपरा और अन्य मसाले आदि वस्तुएँ नगद दाम देकर खरीद लाया करते थे। यहाँ तक कि पीसने का कार्य भी वे स्वयं ही किया करते थे। मसजिद के आँगन में ही एक भट्ठी बनाकर उसमें अग्नि प्रज्वलित करके हंडी के ठीक नाप से पानी भर देते थे। हंडी दो प्रकार की थी - एक छोटी और दूसरी बड़ी। एक में सौ और दूसरी में पाँच सौ व्यक्तियों का भोजन तैयार हो सकता था। कभी वे मोठे चावल बनाते और कभी मांसमिश्रित चावल (पुलाव) बनाते थे। कभी-कभी दाल और मुटकुले भी बना लेते थे। पत्थर की सिल पर महीन मसाला पीस कर हंडी में डाल देते थे। भोजन रुचिकर बने, इसका वे भरसक प्रयत्न किया करते थे। ज्वार के आटे को पानी में उबाल कर उसमें छाँछ मिलाकर अंबिल (आमटी) बनाते और भोजन के साथ सब भक्तों को समान मात्रा में बाँट देते थे। भोजन ठीक बन रहा है या नहीं, यह जानने के लिये वे अपनी कफनी की बाँहें ऊपर चढ़ाकर निर्भय हो उबलती हंडी में हाथ डाल देते और उसे चारों ओर घुमाया करते थे। ऐसा करने

पर भी उनके हाथ पर न कोई जलन का चिह्न और न चेहरे पर ही कोई व्यथा की रेखा प्रतीत हुआ करती थी। जब पूर्ण भोजन तैयार हो जाता, तब वे मसजिद से बर्तन मँगाकर मौलवी से फातिहा पढ़ने को कहते थे; फिर वे म्हालसापति तथा तात्या पाटील के प्रसाद का भाग पृथक् रखकर शेष भोजन गरीब और अनाथ लोगों को खिलाकर उन्हें तृप्त करते थे। सचमुच वे लोग धन्य थे। कितने भाग्यशाली थे वे, जिन्हें बाबा के हाथ का बना और परोसा हुआ भोजन खाने को प्राप्त हुआ?

यहाँ कोई यह शंका कर सकता है कि क्या वे शाकाहारी और मांसाहारी भोज्य पदार्थों का प्रसाद सभी को बाँटा करते थे? इसका उत्तर बिलकुल सीधा और सरल है। जो लोग मांसाहारी थे, उन्हें हण्डी में से दिया जाता था तथा शाकाहारियों को उसका स्पर्श तक न होने देते थे। न कभी उन्होंने किसी को मांसाहार का प्रोत्साहन ही दिया और न ही उनकी आंतर्गिक इच्छा थी कि किसी को इसके सेवन की आदत लग जाय। यह एक अति पुरातन अनुभूत नियम है कि जब गुरुदेव प्रसाद वितरण कर रहे हों, तभी यदि शिष्य उसके ग्रहण करने में शंकित हो जाय तो उसका अधःपतन हो जाता है। यह अनुभव करने के लिये कि शिष्य गण इस नियम का किस अंश तक पालन करते हैं, वे कभी-कभी परीक्षा भी ले लिया करते थे। उदाहरणार्थ एक एकादशी के दिन उन्होंने दादा केलकर को कुछ रुपये देकर कुछ मांस खरीद लाने को कहा। दादा केलकर पूरे कर्मकांडी थे और प्रायः सभी नियमों का जीवन में पालन किया करते थे। उनकी यह दृढ़ भावना थी कि द्रव्य, अन्न और वस्त्र इत्यादि गुरु को भेंट करना पर्याप्त नहीं है। केवल उनकी आज्ञा ही शीघ्र कार्यान्वित करने से वे प्रसन्न हो जाते हैं। यही उनकी दक्षिणा है। दादा शीघ्र कपड़े पहिन कर एक थैला लेकर बाजार जाने के लिये उद्यत हो गये। तब बाबा ने उन्हें लौटा लिया और कहा कि तुम न जाओ, अन्य किसी को भेज दो। दादा ने अपने नौकर पाण्डू को इस कार्य के निमित्त भेजा। उसको जाते देखकर बाबा ने उसे भी वापस बुलाने को कहकर यह कार्यक्रम स्थगित कर दिया।

ऐसे ही एक अन्य अवसर पर उन्होंने दादा से कहा कि देखो तो नमकीन पुलाव कैसा पका है? दादा ने योंही मुँहदेखी कह दिया कि अच्छा है। तब वे कहने लगे कि तुमने न अपनी आँखों से ही देखा और न जिह्वा से स्वाद लिया, फिर तुमने यह कैसे कह दिया कि उत्तम बना है? थोड़ा ढक्कन हटाकर तो देखो। बाबा ने दादा की बाँह पकड़ी और बलपूर्वक बर्तन में डालकर बोले - थोड़ासा इसमें से निकालो और अपना कट्टरपन छोड़कर चख कर देखो। जब माँ का सच्चा प्रेम बच्चे पर उमड़ आता है, तब माँ उसे

चिमटी भरती है, परन्तु उसका चिल्लाना या रोना देखकर वह उसे अपने हृदय से लगाती है। इसी प्रकार बाबा ने सात्विक मातृप्रेम के वश हो दादा का इस प्रकार हाथ पकड़ा। यथार्थ में कोई भी सन्त या गुरु कभी भी अपने कर्मकांडी शिष्य को वर्जित भोज्य के लिये आग्रह करके अपनी अपकीर्ति कराना पसन्द न करेगा।

इस प्रकार यह हंडी का कार्यक्रम सन् १९१० तक चला और फिर स्थगित हो गया। जैसा पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, दास गणू ने अपने कीर्तन द्वारा समस्त बम्बई प्रांत में बाबा की अधिक कीर्ति फैलाई। फलतः इस प्रांत से लोगों के झुंड के झुंड शिरडी को आने लगे और थोड़े ही दिनों में शिरडी पवित्र तीर्थ-क्षेत्र बन गया। भक्तगण बाबा को नैवेद्य अर्पित करने के लिए नाना प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ लाते थे, जो इतनी अधिक मात्रा में एकत्र हो जाता था कि फकीरों और भिखारियों को सन्तोषपूर्वक भोजन कराने पर भी बच जाता था। नैवेद्य वितरण करने की विधि का वर्णन करने से पूर्व हम नानासाहेब चाँदोरकर की उस कथा का वर्णन करेंगे, जो स्थानीय देवी-देवताओं और मूर्तियों के प्रति बाबा की सम्मान-भावना की द्योतक है।

### नानासाहेब द्वारा देव-मूर्ति की उपेक्षा

कुछ व्यक्ति अपनी कल्पना के अनुसार बाबा को ब्राह्मण तथा कुछ उन्हें यवन समझा करते थे, परन्तु वास्तव में उनकी कोई जाति न थी। उनकी और ईश्वर की केवल एक जाति थी।<sup>१</sup> कोई भी निश्चयपूर्वक यह नहीं जानता कि वे किस कुल में जनमे और उनके मातापिता कौन थे। फिर उन्हें हिन्दू या यवन कैसे घोषित किया जा सकता है? यदि वे यवन होते तो मसजिद में सदैव धूनी और तुलसी वृन्दावन ही क्यों लगाते और शंख, घण्टे तथा अन्य संगीत वाद्य क्यों बजने देते? हिन्दुओं की विविध प्रकार की पूजाओं को क्यों स्वीकार करते? यदि सचमुच यवन होते तो उनके कान क्यों छिदे होते तथा वे हिन्दू मन्दिरों का स्वयं जीर्णोद्धार क्यों करवाते? उन्होंने हिन्दुओं की मूर्तियों तथा देवी-देवताओं की जरा सी उपेक्षा भी कभी सहन न की।

एक बार नानासाहेब चाँदोरकर अपने सादू (साली के पति) श्री. बिनीवले के साथ शिरडी आये। जब वे मसजिद में पहुँचे, बाबा वार्तालाप करते हुये अनायास ही क्रोधित

१. (क) जाति न पृछो साधु की, पूछ लीजियो ज्ञान।

मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान ॥

(ख) जाति पाँति पूछै नहि कोई। हरि को भजै सो हरि का होई ॥ - तुलसी

होकर कहने लगे कि “तुम दीर्घकाल से मेरे सान्निध्य में हो, फिर भी ऐसा आचरण क्यों करते हो?” नानासाहेब प्रथमतः इन शब्दों का कुछ भी अर्थ न समझ सके। अतः उन्होंने अपना अपराध समझाने की प्रार्थना की। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि “तुम कब कोपरगाँव आये और फिर वहाँ से कैसे शिरडी आ पहुँचे?” तब नानासाहेब को अपनी भूल तुरन्त ही ज्ञात हो गई। उनका यह नियम था कि शिरडी आने से पूर्व वे कोपरगाँव में गोदावरी के तट पर स्थित श्री दत्त का पूजन किया करते थे। परन्तु रिश्तेदार के दत्त-उपासक होने पर भी इस बार विलम्ब होने के भय से उन्होंने उनको भी दत्त मंदिर में जाने से हतोत्साहित किया और वे दोनों सीधे शिरडी चले आये थे। अपना दोष स्वीकार कर उन्होंने कहा कि “गोदावरी में स्नान करते समय पैर में एक बड़ा काँटा चुभ जाने के कारण अधिक कष्ट हो गया था।” बाबा ने कहा कि “यह तो बहुत छोटासा दंड था” और उन्हें भविष्य में ऐसे आचरण के लिये सदैव सावधान रहने की चेतावनी दी।

### नैवेद्य-वितरण

अब हम नैवेद्य-वितरण का वर्णन करेंगे। आरती समाप्त होने पर बाबा से आशीर्वाद तथा उदी प्राप्त कर जब भक्तगण अपने-अपने घर चले जाते, तब बाबा परदे के भीतर प्रवेश कर निम्बर के सहारे पीठ टेककर भोजन के लिये आसन ग्रहण करते थे। भक्तों की दो पंक्तियाँ उनके समीप बैठा करती थीं। भक्तगण नाना प्रकार के नैवेद्य, पूरी, माण्डे, पड़ा, बर्फी, बासुंदी उपमा (सांजा) अम्बे मोहर (भात) इत्यादि थाली में सजा-सजा कर लाते और जब तक वे नैवेद्य स्वीकार न कर लेते, तब तक भक्तगण बाहर ही प्रतीक्षा किया करते थे। समस्त नैवेद्य एकत्रित कर दिया जाता, तब वे स्वयं ही भगवान् को नैवेद्य अर्पण कर स्वयं ग्रहण करते थे। उसमें से कुछ भाग बाहर प्रतीक्षा करने वालों को देकर शेष भीतर बैठे हुए भक्त पा लिया करते थे। जब बाबा सबके मध्य में आ बिराजते, तब दोनों पंक्तियों में बैठे हुए भक्त तृप्त होकर भोजन किया करते थे। बाबा प्रायः शामा और निमोणकर से भक्तों को अच्छी तरह भोजन कराने और प्रत्येक की आवश्यकता का सावधानीपूर्वक ध्यान रखने को कहते थे। वे दोनों भी इस कार्य को बड़ी लगन और हर्ष से करते थे। इस प्रकार प्राप्त प्रत्येक ग्रास भक्तों को पोषक और सन्तोषदायक होता था। कितना मधुर, पवित्र, प्रेमरसपूर्ण भोजन था वह? सदा मांगलिक और पवित्र।

### छाँछ (मट्टा) का प्रसाद

इस सत्संग में बैठकर एक दिन जब हेमाडपंत पूर्णतः भोजन कर चुके, तब बाबा ने उन्हें एक प्याला छाँछ पीने को दिया। उसके श्वेत रंग से वे प्रसन्न तो हुए, परन्तु उदर में जरा सी भी गुंजाइश न होने के कारण उन्होंने केवल एक घूँट ही पिया। उनका यह उपेक्षात्मक व्यवहार देखकर बाबा ने कहा कि “सब पी जाओ। ऐसा सुअवसर अब कभी न पाओगे।” तब उन्होंने पूरी छाँछ पी ली, किन्तु उन्हें बाबा के सांकेतिक वचनों का मर्म शीघ्र ही विदित हो गया, क्योंकि इस घटना के थोड़े दिनों के पश्चात् ही बाबा समाधिस्थ हो गये।

पाठको! अब हमें अवश्य ही हेमाडपंत के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, क्योंकि उन्होंने तो छाँछ का प्याला पिया, परन्तु वे हमारे लिए यथेष्ट मात्रा में श्री साई-लीला रूपी अमृत दे गए। आओ, हम उस अमृत के प्याले पर प्याले पीकर सन्तुष्ट और सुखी हो जायें।

॥ श्री सद्गुरु साईनाथार्पणमस्तु। शुभं भवतु ॥



## अध्याय - ३९

### बाबा का संस्कृत ज्ञान



गीता के एक श्लोक की बाबा द्वारा टीका, समाधि मन्दिर का निर्माण।

इस अध्याय में बाबा ने गीता के एक श्लोक का अर्थ समझाया है। कुछ लोगों की ऐसी धारणा थी कि बाबा को संस्कृत भाषा का ज्ञान न था और नानासाहेब की भी उनके प्रति ऐसी ही धारणा थी। इसका खंडन हेमाडपंत ने मूल मराठी ग्रंथ के ५० वें अध्याय में किया है। दोनों अध्यायों का विषय एक-सा होने के कारण वे यहाँ सम्मिलित रूप में लिखे जाते हैं।

#### प्रस्तावना

शिरडी के सौभाग्य का वर्णन कौन कर सकता है? श्री द्वारकामाई भी धन्य हैं, जहाँ श्री साई ने आकर निवास किया और वहीं समाधिस्थ हुए।

शिरडी के नरनारी भी धन्य हैं, जिन्हें स्वयं साई ने पधारकर अनुगृहीत किया और जिनके प्रेमवश ही वे दूर से चलकर वहाँ आये। शिरडी तो पहले एक छोटा सा ग्राम था, परन्तु श्री साई के सम्पर्क से विशेष महत्त्व पाकर वह एक तीर्थ-क्षेत्र में परिणत हो गया।

शिरडी की नारियाँ भी परम भाग्यशालिनी हैं, जिनका उनपर असीम और अभिन्न विश्वास प्रशंसा के परे है। आठों प्रहर-स्नान करते, पीसते, अनाज निकालते, गृहकार्य करते हुये वे उनकी कीर्ति का गुणगान किया करती थीं। उनके प्रेम की उपमा ही क्या हो सकती है? वे अत्यन्त मधुर गायन करती थीं, जिससे गायकों और श्रोतागण के मन को परम शांति मिलती थी।

#### बाबा द्वारा टीका

किसी को स्वप्न में भी ज्ञात न था कि बाबा संस्कृत के भी ज्ञाता हैं। एक दिन

नानासाहेब चाँदोरकर को गीता के एक श्लोक का अर्थ समझाकर उन्होंने लोगों को विस्मय में डाल दिया। इसका संक्षिप्त वर्णन सेवानिवृत्त मामलतदार श्री. बी.व्ही. देव ने मराठी साईलीला पत्रिका के भाग ४, (स्फुट विषय पृष्ठ ५६३) में छपवाया है। इसका संक्षिप्त विवरण Sai Baba's charters and sayings पुस्तक के ६१ वें पृष्ठ पर और The Wonderous Saint Sai Baba के पृष्ठ ३६ पर भी छपा है। ये दोनों पुस्तकें श्री. बी.व्ही. नरसिंह स्वामी द्वारा रचित हैं। श्री. बी.व्ही. देव ने अंग्रेजी में तारीख २७-९-१९३६ को एक वक्तव्य दिया है, जो कि नरसिंह स्वामी द्वारा रचित पुस्तक के "भक्तों के अनुभव, भाग ३" में छपा गया है। श्री. देव को इस विषय की प्रथम सूचना नानासाहेब चाँदोरकर से प्राप्त हुई थी। इसलिए उनका कथन नीचे उद्धृत किया जाता है। नानासाहेब चाँदोरकर वेदान्त के विद्वान् विद्यार्थियों में से एक थे। उन्होंने अनेक टीकाओं के साथ गीता का अध्ययन भी किया था तथा उन्हें अपने इस ज्ञान का अहंकार भी था। उनका मत था कि बाबा संस्कृत भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इसीलिये बाबा ने उनके इस भ्रम का निवारण करने का विचार किया। यह उस समय की बात है, जब भक्तगण अल्प संख्या में आते थे। बाबा भक्तों से एकान्त में देर तक वार्तालाप किया करते थे। नानासाहेब इस समय बाबा की चरण-सेवा कर रहे थे और अस्पष्ट शब्दों में कुछ गुनगुना रहे थे।

**बाबा** - नाना, तुम धीरे-धीरे क्या कह रहे हो?

**नाना** - मैं गीता के एक श्लोक का पाठ कर रहा हूँ।

**बाबा** - कौन-सा श्लोक है वह?

**नाना** - यह भगवद्गीता का एक श्लोक है।

**बाबा** - जरा उसे उच्च स्वर में कहो।

तब नाना भगवद्गीता के चौथे अध्याय का ३४ वाँ श्लोक कहने लगे:-

“तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥”

**बाबा** - नाना, क्या तुम्हें इसका अर्थ विदित है?

**नाना** - जी, महाराज।

**बाबा** - यदि विदित है तो मुझे भी सुनाओ।

**नाना** - इसका अर्थ है- तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों को भली प्रकार दंडवत् कर, सेवा और निष्कपट भाव से किये गये प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जान। वे ज्ञानी, जिन्हें सद्ब्रह्म (ब्रह्म) की प्राप्ति हो चुकी है, तुझे ज्ञान का उपदेश देंगे।

**बाबा** - नाना, मैं इस प्रकार का संकुल भावार्थ नहीं चाहता। मुझे तो प्रत्येक शब्द और उसका भाषांतरित उच्चारण करते हुए व्याकरणसम्मत अर्थ समझाओ।

अब नाना एक-एक शब्द का अर्थ समझाने लगे।

**बाबा** - नाना, क्या केवल साष्टांग नमस्कार करना ही पर्याप्त है?

**नाना** - नमस्कार करने के अतिरिक्त मैं 'प्रणिपात' का कोई दूसरा अर्थ नहीं जानता।

**बाबा** - 'परिप्रश्न' का क्या अर्थ है?

**नाना** - प्रश्न पूछना।

**बाबा** - 'प्रश्न' का क्या अर्थ है?

**नाना** - वही (प्रश्न पूछना)।

**बाबा** - यदि 'परिप्रश्न' और 'प्रश्न' दोनों का अर्थ एक ही है, तो फिर व्यास ने 'परि' उपसर्ग का प्रयोग क्यों किया? क्या व्यास की बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी?

**नाना** - मुझे तो 'परिप्रश्न' का अन्य अर्थ विदित नहीं है।

**बाबा** - 'सेवा?' किस प्रकार की सेवा से यहाँ आशय है?

**नाना** - वही जो हम लोग सदा आपकी करते रहते हैं।

**बाबा** - क्या यह 'सेवा' पर्याप्त है?

**नाना** - और इससे अधिक 'सेवा' का कोई विशिष्ट अर्थ मुझे ज्ञात नहीं है।

**बाबा** - दूसरी पंक्ति के "उपदेश्यति ते ज्ञानं" में क्या तुम 'ज्ञानं' शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द का प्रयोग कर इसका अर्थ कह सकते हो?

**नाना** - जी हाँ।

**बाबा** - कौन सा शब्द?

**नाना** - अज्ञानम्।

**बाबा** - 'ज्ञानं' के बजाय उस शब्द को जोड़ कर क्या इस श्लोक का अर्थ निकलता है?

**नाना** - जी नहीं, शांकर भाष्य में इस प्रकार की कोई व्याख्या नहीं है।

**बाबा** - नहीं है, तो क्या हुआ? यदि 'अज्ञान' शब्द के प्रयोग से कोई उत्तम अर्थ निकल सकता है तो उसमें क्या आपत्ति है?

**नाना** - मैं नहीं जानता कि उसमें 'अज्ञान' शब्द का किस प्रकार प्रयोग होगा।

**बाबा** - कृष्ण ने अर्जुन को क्यों ज्ञानियों या तत्त्वदर्शियों को नमस्कार करने, उनसे प्रश्न पूछने और सेवा करने का उपदेश किया था? क्या स्वयं कृष्ण तत्त्वदर्शी नहीं थे? वस्तुतः स्वयं ज्ञान स्वरूप?

**नाना** - जी हाँ, वे ज्ञानावतार थे। परन्तु मुझे यह समझ में नहीं आता कि उन्होंने अर्जुन से अन्य ज्ञानियों के लिये क्यों कहा?

**बाबा** - क्या तुम्हारी समझ में नहीं आया?

अब नाना हतप्रभ हो गये। उनका घमंड चूर हो चुका था। तब बाबा स्वयं इस प्रकार अर्थ समझाने लगे।

(१) ज्ञानियों को केवल साष्टांग नमस्कार करना पर्याप्त नहीं है। हमें सद्गुरु के प्रति अनन्य भाव से शरणागत होना चाहिए।

(२) केवल प्रश्न पूछना पर्याप्त नहीं। किसी कुप्रवृत्ति या पाखंड, या वाक्य-जाल में फँसाने, या कोई त्रुटि निकालने की भावना से प्रेरित होकर प्रश्न नहीं करना चाहिए, वरन् प्रश्न उत्सुकतापूर्वक केवल मोक्ष या आध्यात्मिक पथ पर उन्नति प्राप्त करने की भावना से ही प्रेरित होकर करना चाहिये।

(३) मैं तो सेवा करने या अस्वीकार करने में पूर्ण स्वतंत्र हूँ, जो ऐसी भावना से कार्य करता है, वह सेवा नहीं कही जा सकती। उसे अनुभव करना चाहिए कि मुझे अपने शरीर पर कोई अधिकार नहीं है। इस शरीर पर तो गुरु का ही अधिकार है और केवल उनकी सेवा के निमित्त ही वह विद्यमान है।

इस प्रकार आचरण करने से तुम्हें सद्गुरु द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो जायेगी, जैसा कि पूर्व श्लोक में बताया गया है।

नाना को यह समझ में नहीं आ सका कि गुरु किस प्रकार 'अज्ञान' की शिक्षा देते हैं।

बाबा - ज्ञान का उपदेश कैसा है? अर्थात् भविष्य में प्राप्त होने वाली आत्मानुभूति की शिक्षा। अज्ञान का नाश करना ज्ञान है। (गीता के श्लोक १८-६६<sup>१</sup> पर ज्ञानेश्वरी भाष्य की ओवी १३९६ में इस प्रकार वर्णन है:- हे अर्जुन! यदि तुम्हारी निद्रा और स्वप्न भंग हो, तब तुम स्वयं हो। वह इसी प्रकार है। गीता के अध्याय ५-१६ के आगे टीका में लिखा है:- क्या ज्ञान में अज्ञान नष्ट करने के अतिरिक्त कोई और भेद भी है?) अंधकार नष्ट करने का अर्थ प्रकाश है। जब हम द्वैत नष्ट करने की चर्चा करते हैं, तो हम अद्वैत की बात करते हैं। जब हम अंधकार नष्ट करने की बात करते हैं तो उसका अर्थ है कि प्रकाश की बात करते हैं। यदि हम अद्वैत की स्थिति का अनुभव करना

१. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ गीता १८ ॥ ६६ ॥

चाहते हैं तो हमें द्वैत की भावना नष्ट करनी चाहिये। यही अद्वैत स्थिति प्राप्त होने का लक्षण है। द्वैत में रहकर अद्वैत की चर्चा कौन कर सकता है? जब तक वैसी स्थिति प्राप्त न हो, तब तक क्या उसका कोई अनुभव कर सकता है?

शिष्य श्री सद्गुरु के समान ही ज्ञान की मूर्ति है? उन दोनों में केवल अवस्था, उच्च अनुभूति, अद्भुत अलौकिक सत्य, अद्वितीय योग्यता और ऐश्वर्य योग में भिन्नता होती है। सद्गुरु निर्गुण निराकार सच्चिदानंद है। वस्तुतः वे केवल मनुष्य जाति और विश्व के कल्याण के निमित्त स्वेच्छापूर्वक मानव शरीर धारण करते हैं, परन्तु नर-देह धारण करने पर भी उनकी सत्ता की अनंतता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। उनकी आत्मोपलब्धि, लाभ, दैविक शक्ति और ज्ञान सदा एक-से रहते हैं। शिष्य का भी तो यथार्थ में वही स्वरूप है, परन्तु अनगिनत जन्मों के कारण उसे अज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उसीके वशीभूत होकर उसे भ्रम हो जाता है तथा अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। गीता का अध्याय ५<sup>१</sup> देखो- “अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।” जैसा कि वहाँ बतलाया गया है, उसे भ्रम हो जाता है कि “मैं” जीव हूँ, एक प्राणी हूँ, दुर्बल और असहाय हूँ। गुरु इस अज्ञानरूपी जड़ को काटकर फेंक देता है और इसीलिए उसे उपदेश करना पड़ता है। ऐसे शिष्य को जो जन्म-जन्मांतरों से यह धारणा करता आया है कि “मैं तो जीव, दुर्बल और असहाय हूँ,” गुरु सैकड़ों जन्मों तक ऐसी शिक्षा देते हैं कि तुम ही ईश्वर हो, सर्वशक्तिमान् और समर्थ हो, तब कहीं जाकर उसे किंचित् मात्र भास होता है कि यथार्थ में “मैं ही ईश्वर हूँ।” सतत भ्रम में रहने के कारण ही उसे ऐसा भास होता है कि “मैं शरीर हूँ, एक जीव हूँ, तथा ईश्वर और यह विश्व मुझ से एक भिन्न वस्तु है।” यह तो केवल एक भ्रम मात्र है, जो अनेक जन्म धारण करने के कारण उत्पन्न हो गया है। कर्मानुसार प्रत्येक प्राणी को सुखदुःख की प्राप्ति होती है। इस भ्रम, इस त्रुटि और इस अज्ञान की जड़ को नष्ट करने के लिये हमें स्वयं अपने से प्रश्न करना चाहिए कि यह अज्ञान कैसे पैदा हो गया? वह अज्ञान कहाँ है? और इस त्रुटि का दिग्दर्शन कराने को ही उपदेश कहते हैं।

अज्ञान के नीचे लिखे उदाहरण हैं:-

(१) मैं एक जीव (प्राणी) हूँ।

१. नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ गीता ५-१५ ॥

(२) शरीर ही आत्मा है। (मैं शरीर हूँ)

(३) ईश्वर, विश्व और जीव भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं।

(४) मैं ईश्वर नहीं हूँ।

(५) शरीर आत्मा नहीं है, इसका अबोध।

(६) इसका ज्ञान न होना कि ईश्वर, विश्व और जीव सब एक ही हैं।

जब तक इन त्रुटियों का उसे दिग्दर्शन नहीं कराया जाता, तब तक शिष्य को यह कभी अनुभव नहीं हो सकता कि ईश्वर, जीव और शरीर क्या हैं; उनमें क्या अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है तथा वे परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न हैं अथवा एक ही हैं? इस प्रकार की शिक्षा देना और भ्रम को दूर करना ही ‘अज्ञान’ का ज्ञानोपदेश कहलाता है। अब प्रश्न यह है कि जीव जो स्वयं ज्ञान-मूर्ति है, उसे ज्ञान की क्या आवश्यकता है? उपदेश का हेतु तो केवल त्रुटि को उसकी दृष्टि में लाकर अज्ञान को नष्ट करना है। बाबा ने आगे कहा:-

(१) ‘प्रणिपात’ का अर्थ है ‘शरणागति’।

(२) शरणागत होना चाहिए तन, मन, धन से (अर्थात् अनन्य भाव से)।

(३) कृष्ण अन्य ज्ञानियों की ओर क्यों संकेत करते हैं? सद्भक्त के लिए तो प्रत्येक तत्त्व वासुदेव है। (भगवद्गीता<sup>१</sup> अ. ७-१९ अर्थात् कोई भी गुरु अपने भक्त के लिए कृष्ण है) और गुरु शिष्य को वासुदेव मानता है और कृष्ण इन दोनों को अपने प्राण और आत्मा। (भगवद्गीता<sup>२</sup> अ. ७-१८ पर ज्ञानदेव की टीका) चूँकि श्रीकृष्ण को विदित था कि ऐसे अनेक भक्त और गुरु विद्यमान हैं, इसलिये उनका महत्त्व बढ़ाने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ऐसा उल्लेख किया।

### समाधि-मन्दिर का निर्माण

बाबा जो कुछ करना चाहते थे, उसकी चर्चा वे कभी नहीं करते थे, प्रत्युत् आसपास ऐसा वातावरण और परिस्थिति निर्माण कर देते थे कि लोगों को उनका मंथर, परन्तु निश्चित परिणाम देखकर बड़ा अचम्भा होता था। समाधि-मन्दिर इस विषय का उदाहरण है। नागपुर के प्रसिद्ध लक्षाधिपति श्रीमान् बापूसाहेब बूटी सहकुटुम्ब शिरडी में रहते थे। एक बार उन्हें विचार आया कि शिरडी में स्वयं का एक वाड़ा होना चाहिए। कुछ समय

१. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ गीता ७ ॥ १९ ॥

२. उदारः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ गीता ७ ॥ १८ ॥

के पश्चात् जब वे दीक्षित वाड़े में निद्रा ले रहे थे तो उन्हें एक स्वप्न हुआ। बाबा ने स्वप्न में आकर उनसे कहा कि “तुम अपना एक वाड़ा और एक मन्दिर बनवाओ।” शामा भी वहीं शयन कर रहा था और उसने भी ठीक वैसा ही स्वप्न देखा। बापूसाहेब जब उठे तो उन्होंने शामा को रुदन करते देखकर उससे रोने का कारण पूछा। तब शामा कहने लगा:-

“अभी-अभी मुझे एक स्वप्न आया था कि बाबा मेरे बिलकुल समीप आये और स्पष्ट शब्दों में कहने लगे कि “मन्दिर के साथ वाड़ा बनवाओ। मैं समस्त भक्तों की इच्छाएँ पूर्ण करूँगा।” बाबा के मधुर और प्रेमपूर्ण शब्द सुनकर मेरा प्रेम उमड़ पड़ा तथा गला रूँध गया और मेरी आँखों से अश्रुओं की धारा बहने लगी। इसलिए मैं जोर से रोने लगा।” बापूसाहेब बूटी को आश्चर्य हुआ कि दोनों के स्वप्न एक से ही हैं। धनाढ्य तो वे थे ही, उन्होंने वाड़ा निर्माण करने का निश्चय कर लिया और शामा के साथ बैठकर एक नक्शा खींचा। काकासाहेब दीक्षित ने भी उसे स्वीकृत किया और जब नक्शा बाबा के समक्ष प्रस्तुत किया गया तो उन्होंने भी तुरंत स्वीकृति दे दी। तब निर्माण कार्य प्रारम्भ कर दिया गया और शामा की देखरेख में नीचे की मंजिल, तहखाना और कुआँ बनकर तैयार हो गये। बाबा भी लेंडी को आते-जाते समय परामर्श दे दिया करते थे। आगे यह कार्य बापूसाहेब जोग को सौंप दिया गया। जब कार्य इसी तरह चल ही रहा था, उसी समय बापूसाहेब जोग को एक विचार आया कि कुछ खुला स्थान भी अवश्य होना चाहिये, जिसके बीचोंबीच ‘मुरलीधर’ की मूर्ति की भी स्थापना की जाय। उन्होंने अपना विचार शामा को प्रकट किया तथा बाबा से अनुमति प्राप्त करने को कहा। जब बाबा वाड़े के पास से जा रहे थे, तभी शामा ने बाबा से प्रश्न कर दिया। शामा का प्रश्न सुनकर बाबा ने स्वीकृति देते हुए कहा कि “जब मन्दिर का कार्य पूर्ण हो जायगा, तब मैं स्वयं वहाँ निवास करूँगा,” और वाड़े की ओर दृष्टिपात करते हुए कहा “जब वाड़ा सम्पूर्ण बन जायगा, तब हम सब लोग उसका उपभोग करेंगे। वहीं रहेंगे, घूमेंगे, फिरेंगे और एक दूसरे को हृदय से लगायेंगे तथा आनन्दपूर्वक विचरेंगे।” जब शामा ने बाबा से पूछा कि क्या यह मूर्ति के मध्य कक्ष की नींव के कार्य आरम्भ का शुभ मुहूर्त है? तब उन्होंने स्वीकारात्मक उत्तर दे दिया। तभी शामा ने एक नारियल लाकर फोड़ा और कार्य प्रारम्भ कर दिया। ठीक समय में सब कार्य पूर्ण हो गया और ‘मुरलीधर’ की एक सुन्दर मूर्ति बनवाने का प्रबन्ध किया गया। अभी उसका निर्माण कार्य प्रारम्भ भी न हो पाया था कि एक नवीन घटना घटित हो गई। बाबा की स्थिति चिंताजनक हो गई और ऐसा दिखने लगा कि वे अब देह त्याग देंगे। बापूसाहेब बहुत उदास और निराश से हो गये।

उन्होंने सोचा कि यदि बाबा चले गये तो वाड़ा उनके पवित्र चरण-स्पर्श से वंचित रह जायगा और मेरा सब (लगभग एक लाख) रुपया व्यर्थ हो जायेगा, परन्तु अंतिम समय बाबा के श्री मुख से निकले हुए वचनों ने (“मुझे वाड़े में ही रखना”) केवल बूटीसाहेब को ही सान्त्वना नहीं पहुँचाई, वरन् अन्य लोगों को भी शांति मिली। कुछ समय के पश्चात् बाबा का पवित्र शरीर मुरलीधर की मूर्ति के स्थान पर रख दिया गया। बाबा स्वयं ‘मुरलीधर’ बन गये और वाड़ा ‘साईबाबा का समाधि मंदिर’।

उनकी अगाध लीलाओं की थाह कोई न पा सका। श्री. बापूसाहेब बूटी धन्य हैं, जिनके वाड़े में बाबा का दिव्य और पवित्र पार्थिव शरीर अब विश्राम कर रहा है।

॥ श्री सद्गुरु साईनाथार्पणमस्तु । शुभं भवतु ॥

